प्रोफेसर विजय वर्मा

विज्ञान में पाठ्यक्रम सम्बंधी चयन के आधार

धन्यवाद अध्यक्ष महोदय। मैं इस सम्मेलन के आयोजकों - रमा कांत, साधना और हार्डी - को भी धन्यवाद देना चाहूंगा कि उन्होंने मुझे विज्ञान में पाठ्यक्रम सम्बंधी चयन के आधार पर बोलने को आमंत्रित किया है। मैं यह ज़रूर कहूंगा कि जिस ढंग की चर्चाएं हम कर रहे थे, उनमें लगभग एक पैराडाइम शिफ्ट आया है। कहां तो पिछले सत्रों में पाठ्यक्रम पर फोकस करने की चिंता थी, और अब चर्चा के केंद्र में बच्चे हैं। इसके लिए मैं फरीदा को धन्यवाद देना चाहूंगा कि उन्होंने यह बदलाव थोड़ा आसान कर दिया। कल एक घटना ने मुझे बेचैन कर दिया - मेरे मित्र तुषार तम्हाणे ने आकर मुझसे कहा, "देखिए, क्या आप जानते हैं कि पांच वर्ष पहले आपने पाठ्यक्रम विकास के बारे में क्या कहा था?" और उसने दो पन्ने निकालकर पूछा, "क्या आप आज भी वही मानते हैं, जो आपने 1995 में कहा था?" चूंकि मुझे ठीक-ठीक याद नहीं था कि मैंने क्या कहा था, मैं थोड़ा हिचका। तो मैंने कहा कि तुम मुझे यह पर्चा दे दो और मैं देखता हूं कि मेरे विचार बदले हैं या नहीं। खुशकिस्मती से, मेरे विचार ज़्यादा नहीं बदले हैं। तो मुझे सुकून मिला मगर मैं फिर से उन मुद्दों की चर्चा नहीं करूंगा जो मैंने उन पन्नों में उठाए थे। उमा उनके बारे में बात करेगी।

मैं थोड़ा अलग रास्ता लूंगा। सबसे पहले तो मैं अपनी शब्दावली को परिभाषित कर दूं। जब मैं पाठ्यक्रम की बात करता हूं तो यह पूरे पैकेज की बात होती है। मतलब आप अपने लिए जो लक्ष्य निर्धारित करते हैं, जो विषयवस्तु तय करते हैं, कक्षा में आप जिस पद्धति का उपयोग करने वाले हैं, जिन पाठ्य पुस्तकों का इस्तेमाल करेंगे, बुनियादी उपकरणों की व्यवस्था, पाठ्यक्रम के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण व समर्थन की व्यवस्था, और अंततः मूल्यांकन व आकलन की प्रक्रिया जिससे आप यह पता लगाएंगे कि क्या लक्ष्यों की पूर्ति हो रही है। चूंकि कई मर्तबा विषयवस्तु (सिलेबस) को ही पाठ्यक्रम मानने की भूल हो जाती है, जैसा कि कल बताया गया था, मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं सिलेबस के बारे में बात नहीं कर रहा हूं। मैं एक व्यापक सामान्य अर्थ में विज्ञान के पाठ्यक्रम के बारे में चर्चा करना चाहता हूं।

सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण बात मैं यह कहना चाहता हूं कि किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए और विज्ञान को पढ़ाने के लिए तो यकीनन कोई एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम नहीं हो सकता। और मैं यह बात एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा व्यापक पैमाने पर की गई कवायद के संदर्भ में कह रहा हूं, जिसमें मेरे कई मित्रों ने शिरकत की। यदि आप यह मान भी लें कि पाठ्यक्रम सम्बंधी लक्ष्य पूरे देश के लिए एक समान हो सकते हैं, तो भी दिल्ली के एक पब्लिक स्कूल और बनखेड़ी के एक सरकारी स्कूल की परिस्थितयां इतनी अलग-अलग हैं कि यह असंभव है, मेरे ख्याल में विचारशून्यता है, कि एक ही शिक्षा पद्धति, एक ही सिलेबस को दोनों परिस्थितियों में सख्ती से लागू किया जाए। तो यदि आपके लक्ष्य एक-से हों, फिर भी चूंकि विभिन्न स्कूलों में बच्चे बहुत अलग-अलग परिस्थितयों में हैं और बहुत अलग-अलग शुरुआती स्थिति से शुरू करते हैं, इसलिए उन लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए जो रास्ते वे अख्तियार करेंगे वे अनिवार्य रूप से अलग-अलग होंगे। यदि हम इस बात को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे लगता है कि तमाम दिक्कतों की ओर बढ़ रहे हैं।

अब आप सब इसके बारे में जानते ही हैं, मुझे बताने की ज़रूरत नहीं है कि राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचा और राष्ट्रीय सिलेबस विकसित करने के लिए क्या कवायद की गई और अब राष्ट्रीय पाठ्य पुस्तकें लिखी जा रही हैं। जब मेरे मित्र, एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक से हाल ही में एक पत्रकार ने पूछा कि "सरकार जो यह विशाल राशि खर्च कर रही है, उसे आप कैसे उचित ठहराते हैं, जबकि आप जानते हैं कि इन पुस्तकों का उपयोग देश की कुल छात्र आबादी में से मात्र ढाई-तीन प्रतिशत द्वारा ही किया जाता है?", तो उनका जवाब चौंकाने वाला था। यह कल के टाइम्स ऑफ इण्डिया में आया है। उन्होंने कहा कि हम सारे राज्यों के शिक्षा सचिवों की बैठक करेंगे और उन्हें मनाने की कोशिश करेंगे कि वे अपनी-अपनी किताबें तैयार न करें और एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों का उपयोग करें। विविधता के इस मुद्दे पर मैं और चर्चा करना चाहूंगा।

आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं कृष्ण कुमार ने एक साल पहले ही एस.सी.ई.आर.टी. दिल्ली द्वारा पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के प्रयासों का मार्गदर्शन किया था। और उसका औचित्य यह था कि एस.सी.ई.आर.टी. को अपनी किताबें लिखनी चाहिए और एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों का उपयोग नहीं करना चाहिए। तो देखिए कि नौकरशाही के अंदर काम करने से चीज़ें बदल जाती हैं। एक समान राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की असंगति तब और उभरकर आती है जब आप यह देखें, जैसा कि मैंने पहले भी बताया था, कि हमारे स्कूल कितनी अलग-अलग परिस्थितियों में चलते हैं। जब आप इस बात पर ध्यान दें कि बच्चे कितनी अलग-अलग क्षमताओं के साथ आते हैं, हमारे शिक्षकों का शिक्षण के प्रति नज़रिया बहुत अलग-अलग है और उनकी क्षमताओं मे बहुत अंतर है, तब यह कहना कि इन सबको एक सामान्य

पाठ्यक्रम में बांधा जा सकता है, तो मैं कहूंगा कि आप मुसीबत को न्यौता दे रहे हैं।

एक अन्य चीज़ जिसके बारे में मैं बात करना चाहता हूं, उसका ज़िक्र कुछ साथियों ने किया है, मेरे ख्याल में फरीदा ने इसकी बात की थी, और कम से कम राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे में यह निहित है - कि निर्माणवाद (constructivism) एक ऐसी शिक्षा पद्धति है जिसे सार्वभौमिक शिक्षा पद्धति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, न सिर्फ विज्ञान शिक्षण में बल्कि सारी कक्षाओं में सारे विषयों के शिक्षण के लिए। मुझे लगता है कि यह बहुत आपत्तिजनक है। निर्माणवाद की कई परिभाषाएं हैं, और इसके बारे में बात करने में एक परेशानी तो यही है। एक शिक्षा पद्धति के रूप में निर्माणवाद, जिस रूप में मैं इसे जानता हूं, माध्यमिक स्कूलों में विज्ञान शिक्षण में थोड़ी उपयोगी पाई गई है, जहां बहुत सारे अन्वेषण हुए हैं और दर्शाया गया है कि बच्चे स्वयं अपने ज्ञान का निर्माण करते हैं मगर, जैसा कि फरीदा ने बताया, वे सदा किसी वैकल्पिक संकल्पना तक पहुंचते हैं; आप इन्हें गलत अवधारणा भी कह सकते हैं। मुख्य दलील यह है कि बच्चे कक्षा में अपने साथ जो गलत अवधारणाएं लेकर आते हैं उनमें कुछ सार्वभौमिक समानताएं हैं। और यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि आपने भी उन्हें भौतिकी में त्वरण या अन्य अवधारणाओं के बारे में नहीं पढ़ाया है। वे ज़िन्दा लोग हैं जो लगातार बाहरी विश्व को जानने की कोशिश करते हैं और उसका अर्थ समझने की कोशिश करते हैं। तो यह स्वाभाविक है कि वे अपने कुछ सिद्धांत लेकर कक्षा में पहुंचते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इन सबमें कुछ लक्षण सार्वभौमिक समानता लिए होते हैं और ये सम्बंधित विषय के ऐतिहासिक विकास को परिलक्षित करते हैं। कम से कम भौतिकी में, इनमें से अधिकांश गलत अवधारणाएं या वैकल्पिक संकल्पनाएं वे हैं जो गैलीलियो व न्यूटन वगैरह के प्रादुर्भाव से पूर्व अरस्तू के अनुयायी मानते थे।

तो यदि आप यह दर्शा सकें कि गलत संकल्पनाओं का अस्तित्व है और यह स्थापित कर सकें कि ये सार्वभौमिक किस्म की हैं, तो एक ऐसी शिक्षा पद्धति विकसित करना संभव है जो इन गलत संकल्पनाओं को संबोधित करे। अलबत्ता, यह भी देखा गया है कि ये गलत संकल्पनाएं औपचारिक शिक्षा के संदर्भ में बहुत अड़ियल होती हैं। यदि आप स्कूल/हाई स्कूल/स्नातक/स्नातकोत्तर स्तर पर मेकेनिक्स का कोर्स कर चुके छात्रों के सामने मेकेनिक्स के सवाल रखें, जो तकनीकी या शैक्षिक भाषा में नहीं बल्कि रोज़मर्रा की भाषा में पूछे गए हों, तो उनके जवाब आम तौर पर सहज विश्वास के अनुरूप होते हैं न कि उस तरह के जिनकी अपेक्षा आप मेकेनिक्स का गहन अध्ययन कर चुके छात्रों से करते हैं। अर्थात (1) इनमें से कुछ गलत संकल्पनाएं सार्वभौमिक है, और (2) इन्हें उखाड़ना बहुत मुश्किल है। इसलिए कक्षा की परिस्थिति को कुछ इस ढंग से जमाने के प्रयास किए गए हैं कि आप इन गलत संकल्पनाओं को संबोधित करें और फिर उम्मीद करते हैं कि इन गलत संकल्पनाओं या वैकल्पिक अवधारणाओं से आगे बढ़कर आम तौर पर स्वीकार्य अवधारणाओं की ओर जाएंगे, जिन्हें भौतिकविदों ने वर्षों में विकसित किया है।

जो बात मैं कहना चाह रहा हूं और जिस कारण से मैं इस बिंदु पर इतना समय लगा रहा हूं, वह यह है कि जब तक आप यह स्थापित करने का काम नहीं करते कि ये गलत संकल्पनाएं क्या हैं और यह स्थापित नहीं करते कि ये सार्वभौमिक हैं, तब तक इन्हें संबोधित करने के लिए शिक्षा पद्धति डिज़ाइन करना नामुमकिन है। और हालांकि यह काम कुछ हद तक भौतिक में किया गया है और थोड़ा रसायन तथा जीव विज्ञान में किया गया है मगर यह सारी उम्र के बच्चों के लिए नहीं हुआ है। और न सिर्फ भौतिकी या प्रकृति विज्ञानों में, बल्कि खोजबीन के सारे दायरों में ऐसे प्रारंभिक अध्ययन किए बगैर, यह कहना जल्दबाज़ी है कि हमें अपना पूरा पाठ्यक्रम और शिक्षा पद्धति निर्माणवाद के आधार पर तैयार करनी चाहिए।

मैं अब अपनी दूसरी बात पर आता हूं। मेरे ख्याल में कल विज्ञान शिक्षण में प्रयोगों की भूमिका को लेकर सवाल उठाया गया था। आप में से कुछ लोग शायद 'हो.वि.शि.का. के इस ज़ोरदार निरूपण' को स्वीकार करने को तैयार न होंगे कि मिडिल स्कूल स्तर पर विज्ञान की कक्षा में समस्त शिक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण से उभरना चाहिए, जो छात्र स्वयं अपने हाथों से प्रयोग करके प्राप्त कर सकें। हालांकि हो सकता है कि परिस्थितियों के मद्दे नज़र और अन्य प्रासंगिक कारणों से हम इससे हटना चाहें मगर आज भी मेरा गहरा विश्वास है कि प्रयोग किसी भी स्तर के विज्ञान शिक्षण के केंद्र में होना चाहिए - न सिर्फ प्रायमरी व मिडिल स्कूल में, न सिर्फ कॉलेज में, बल्कि उच्च स्तर पर भी। ऐसा कहने का एक कारण तो यह है कि इस देश में बच्चे को एक स्वायत्त सीखने वाला मानने की बात को बहुत कम महत्व दिया जाता है, जो यह तय कर सके कि क्या स्वीकार किया जाना चाहिए और क्या स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए; इसके अलावा हमारे यहां प्रदत्त ज्ञान को ग्रहण करने की एक लंबी परंपरा है, जिसमें शिक्षक और पाठ्यक्रम व सिलेबस के निर्माताओं में यह मोह होता है कि विज्ञान को संचित ज्ञान के एक ऐसे कोश के रूप में प्रस्तुत किया जाए जिसमें सारे महत्वपूर्ण सवाल पूछकर उनके उत्तर खोजे जा चुके हैं। और विज्ञान शिक्षण की इस दृष्टि से मैं दूर हटना चाहता हूं। मैं सीखने वाले को स्वायत्तता देना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि बच्चे विज्ञान पाठ्यक्रम के एक अभिन्न अंग के रूप

में न सिर्फ प्रयोग कर पाएं, बल्कि उन्हें छूट हो कि वे पाठ्यक्रम के अंतर्गत प्रोजेक्ट्स वगैरह के रूप में अपनी रुचि की परिघटनाओं की खोजबीन कर सकें। और खास तौर से अपने इलाके में विज्ञान और समाज के सम्बंधों को देख सकें ताकि विज्ञान को अमूर्त आसन से उतारकर धरती पर लाया जा सके क्योंकि विज्ञान के पास लोगों के जीवन के हालात के बारे में कहने को बहुत महत्वपूर्ण बातें हैं। और यह तभी संभव है जब आप कक्षा में संप्रेषित किए जा रहे अमूर्त विचारों और बच्चे के अपने जीवन की वास्तविक समस्याओं के बीच कड़ी जोड़ सकें।

मैं यह भी मानता हूं कि जब आप स्कूली बच्चों को पढ़ाते हैं, तो उत्पाद (products) से ज़्यादा महत्व प्रक्रिया (process) का होता है। यानी जब आप विज्ञान पढ़ाएं तो बच्चों को वैज्ञानिक विधि का एहसास देना भी ज़रूरी है। यह बहस का विषय हो सकता है कि आप किस हद तक सफल होंगे और यह किस उम्र में किया जा सकता है। मेरा अपना मत है कि यह पूरे पाठ्यक्रम में सतत रूप से किया जा सकता है। मगर जो वैज्ञानिक लोग पाठ्यक्रम रचना में भागीदारी करते हैं, उनके लिए ज़रूरी है कि वैज्ञानिक सिद्धांतो की अस्थायी प्रकृति पर ज़ोर दें। हमें कोशिश करनी चाहिए कि यह एहसास न संप्रेषित हो कि ये भौतिकी के नियम हैं और ये अपरिवर्तनीय हैं। हमें विद्यार्थियों को यह चेतावनी देना चाहिए कि जब वे अपनी औपचारिक शिक्षा में आगे जाएंगे, तो उनका सामना नियमों की पुनर्परिभाषा से होगा, जो भौतिकी उन्हें पढ़ाई जा रही है उसे परिष्कृत किया जाएगा, और हो सकता है, अतीत में हुआ भी है, कि नए प्रायोगिक प्रमाण सामने आने पर पता चले कि विज्ञान के स्थापित सिद्धांत अब मान्य नहीं रहे और उन्हें हटा दिया जाए। किसी प्रकार से हमें अपनी विज्ञान कक्षा में बच्चों को विज्ञान की ऐसी छवि के लिए तैयार करना चाहिए और विज्ञान की एक अपरिवर्तनीय तथा परम सत्य तक पहुंचने में सक्षम मिथ्या छवि को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

मेरा आखरी मुद्दा यह है कि आप पाठ्यक्रम में सुधार की चाहे जितनी बातें करें, चाहे जितने रोचक विचार पाठ्यक्रम में डाल दें, वे सब सिफर साबित होंगे यदि साथ-साथ आप मूल्यांकन व आकलन के सवाल को संबोधित नहीं करते। आकलन व मूल्यांकन की मौजूदा हालत को देखते हुए, और आई.आई.टी., प्रबंध संस्थानों और मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश की प्रतिस्पर्धा परीक्षाओं द्वारा पोषित परीक्षा की छवि को देखते हुए, यदि आप परीक्षा के इस स्वरूप को नहीं बदलते, तो आप कोई भी सार्थक पाठ्यक्रम सुधार लागू नहीं कर पाएंगे। हमने यह बार-बार देखा है क्योंकि जिस ढंग से आप छात्रों का मूल्यांकन करते हैं, उससे यह तय होता है कि शिक्षक कक्षा में किस ढंग से पढ़ाएंगे। यदि शिक्षकों को पता हो कि आपके प्रश्न पत्र क्लोज़्ड होंगे, कि आप तीन घंटे देंगे जिसमें दस में से पांच प्रश्नों के जवाब देने होंगे, जिसमें छात्रों को सोचने के लिए बिलकुल भी समय नहीं मिलेगा, तो चाहे जितनी लफ्फाज़ी कीजिए कि शिक्षण में खुलापन होना चाहिए, उसमें खोजबीन की गुंजाइश होनी चाहिए, यह कारगर नहीं होगा। यदि आपकी परीक्षा का मॉडल यही रहता है कि कोई छात्र प्रश्न पत्र को तभी हल कर पाए जब उसने पहले से वे सवाल छुड़ा लिए हों या उन प्रश्नों के उत्तर पहले से तैयार कर रखे हों, तो मुझे लगता है कि हमें बोरिया बिस्तर बांधकर घर चले जाना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में कुछ भी सफल नहीं हो सकता। हमें इन सवालों पर गौर करना चाहिए कि हम छात्रों में किस चीज़ की परीक्षा करना चाहते हैं, और क्या मौजूदा प्रक्रिया में हम उसकी परीक्षा कर पा रहे हैं। मेरा ख्याल है कि हमें अपनी पारंपरिक परीक्षा प्रणाली में निम्नलिखित परिवर्तन करने चाहिएः सबसे पहले तो परीक्षाओं को बच्चों के लिए कम डरावनी बनाना पड़ेगा, और दूसरी बात कि आपको कहीं ज़्यादा कल्पनाशीलता दर्शानी होगी। मूल्यांकन ज़्यादा सतत और आकलनात्मक होना चाहिए और हमें इस बात से नहीं कतराना चाहिए कि यह व्यक्तिनिष्ठ होगा। इसमें कुछ समस्याएं हैं मगर हमें उन समस्याओं को संबोधित करना चाहिए, न कि एक अच्छी चीज़ को सिर्फ इसलिए बाहर का रास्ता दिखा दें क्योंकि हम व्यक्तिनिष्ठता की समस्या से निपटना नहीं चाहते। मुझे मूलतः इतना ही कहना हैः परीक्षाओं की वजह से इतना कष्ट होता है और परीक्षाएं इतने सारे छात्रों पर असफल होने का लेबल लगा देती हैं कि इस बात पर विचार करने की ज़रूरत है कि अपने बच्चों का मूल्यांकन कैसे करें। मूल्यांकन का उपयोग महज़ छात्रों को मेरिट के आधार पर क्रमबद्ध करने के लिए नहीं होना चाहिए, परीक्षा से हमें शिक्षण प्रक्रिया पर फीडबैक भी मिलना चाहिए ताकि हम यह देख सकें कि हम कहां गलती कर रहे हैं। शुक्रिया।

चर्चा

शांतुः मैं माल्या अदिति इंटरनेशनल स्कूल, बैंगलोर से शांतु हूं। मैं आपकी प्रशंसा करता हूं कि आपने अपने व्याख्यान में विभिन्न सीखने वालों और मूल्यांकन के विभिन्न तरीकों, विज्ञान में कल्पनाशीलता और मूल्यांकन की भूमिका पर विचार किया। मगर मैं आपके एक कथन से सहमत नहीं हूं। आपने कहा कि प्रयोग विज्ञान के केंद्र में होना चाहिए। मेरा मत है कि प्रयोग एक औज़ार है, विज्ञान सीखने का एक तरीका है, ज़रूरी नहीं कि यही उसका हृदय हो। यह एक बात थी। दूसरी बात यह है कि आप प्रयोग करें मगर उन्हें यथार्थ जीवन से जोड़ें भी। आप बच्चे को यह नहीं सिखा सकते कि उत्प्लावन का मतलब सिर्फ डूबना और तैरना है। यदि वह वास्तविक जीवन में डूबने लगे तो यह वहां किस

काम आएगा?

जयक्षी रामदासः मैं आपकी अधिकांश बातें से सहमत हूं। सिर्फ एक बात है जिससे मैं सहमत नहीं हूं और उसका सम्बंध गलत संकल्पनाओं की भूमिका से और आपके इस बिंदु से है कि आप जो भी पढ़ाएं ये संकल्पनाएं उसके मूल में होनी चाहिए। यह सही है कि कुछ गलत संकल्पनाओं को पहचाना गया है और इनमें से ज़्यादातर भौतिकी में हैं, मगर यह सही नहीं है कि ऐसी सार्वभौमिक संकल्पनाओं की तादाद इतनी पर्याप्त है कि पाठ्यक्रम को उन पर आधारित किया जा सके। और दूसरी बात जो आपने निर्माणवाद के बारे में कही। मैं उससे पूरी तरह सहमत हूं। निर्माणवाद पर अत्यधिक ज़ोर दिया जा रहा है और मूल समस्या यह है कि विज्ञान शिक्षा के अपने कोई सिद्धांत नहीं हैं। इसलिए विज्ञान शिक्षण के सिद्धांत विज्ञान के दर्शन में प्रचलित फैशन से आते हैं और आजकल निर्माणवाद प्रचलन में है।

राकेश सक्सेनाः मेरे ख्याल में आपने पाठ्यक्रम, शिक्षा के लक्ष्य, सिलेबस के लक्ष्य, शिक्षण साधन, शिक्षण विधि, शिक्षा पद्धति, शिक्षण प्रशिक्षण, मूल्यांकन आदि को लेकर अपनी समझ काफी स्पष्ट रूप से बताई। आप जो विभिन्न समुदायों के बच्चों के बीच विविधता का सम्मान करने की बात कह रहे हैं, हालांकि मैं उसका आदर करता हूं, मगर मुझे पाठ्यक्रम विशेष के लक्ष्यों को लेकर एक समस्या है। यदि मैं कहूं कि राष्ट्र स्तरीय पाठ्यक्रम का एक लक्ष्य यह है कि देश भर के बच्चों को तर्क करने, आत्म निर्भर रहने, चीज़ों पर सवाल पूछने, समस्त सत्ताओं पर सवाल उठाने की शिक्षा मिलनी चाहिए, तो क्या आप इससे सहमत होंगे या फिर भी आप कहेंगे कि इसे भी बच्चों के परिवेश की विविधता के तहत देखना होगा। मुझे लगता है कि शायद देश के स्तर पर एक ही विषयवस्तु पर तो सवाल उठाए जा सकते हैं, मगर हमारे समाज में कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनसे बहुत व्यापक स्तर पर निपटना होगा। शायद कुछ लक्ष्यों को राष्ट्र के स्तर पर देखना होगा, हम इन्हें राज्य के नौकरशाहों के भरोसे नहीं छोड़ सकते। यदि आप एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक या अफसरों का आदर नहीं करते तो जयपुर, लखनऊ या पटना में बैठे नौकरशाहों का आदर क्या करेंगे। चिंता यह है कि हमारे पास शिक्षाविदों या वैज्ञानिकों का एक समूह होना चाहिए जो इस बात पर ध्यान दे कि राष्ट्र स्तर पर पाठ्यक्रम के लक्ष्य क्या हों और मुझे इसमें कुछ गलत नहीं लगता।

विजय वर्माः मैंने यह नहीं कहा कि लक्ष्य एक-से नहीं हो सकते।

कमलः मैं चाहूंगा कि विजय प्रयोगों की अवधारणा को थोड़ा और विस्तार में बताए क्योंकि मुख्यधारा में प्रयोगों की बहुत ही संकीर्ण समझ है कि प्रयोग से मतलब है कि आप किसी ऐसी चीज़ को प्रयोग से प्रदर्शित करते हैं जिसे आप सिद्धांत में पहले ही सीख चुके हैं या किसी नियम को प्रदर्शित करते हैं वगैरह। शिक्षा पद्धति के लिहाज़ से प्रयोग की अवधारणा को और समृद्ध बनाना होगा और यह भी स्पष्ट करना होगा कि विज्ञान के कामकाज में इसका क्या अर्थ है, कि इसमें खोज, परिकल्पना निर्माण और परिकल्पना की जांच के तत्वों का समावेश होता है।

पंकज जैनः मूल्यांकन सम्बंधी आपकी टिप्पणी के संदर्भ में मैं एक छोटा-सा अवलोकन साझा करना चाहूंगा। यह सही है कि एक शिक्षक द्वारा किया गया व्यक्तिनिष्ठ, समग्र मूल्यांकन किसी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन, जो आजकल प्रचलित है, की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा मगर मेरे परिवेश के संदर्भ में इसके एक निहितार्थ पर, ध्यान देना ज़रूरी है। मैं प्रबंधन क्षेत्र के बारे में थोड़ा-बहुत जानता हूं जहां लोगों को तैनात करने के लिए, उनका आकलन करने के लिए व्यक्तिनिष्ठ समग्र मूल्यांकन का सहारा लिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उच्च पदों पर सेंट्रल या स्टेट बैंक से आए लोग बैठे थे क्योंकि जो लोग व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन करते थे वे सब उसी पृष्ठभूमि के थे। कोई संदेह नहीं कि वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन सीमित होता है, मगर इसने अन्य लोगों के लिए अवसर खोले हैं कि वे इस धारा में आ सकें। तो बड़ी संख्या में लोगों के व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन की सीमाएं एक महत्वपूर्ण कारक है। यदि हमारे पास व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन का अनुभव आधारित तरीका न हो, तो सीमित मगर वस्तुनिष्ठ आकलन को अपनाने के अलावा कोई चारा नहीं है।

मीराः क्या आप मुझे इन सार्वभौमिक गलत संकल्पनाओं के कुछ उदाहरण दे सकते हैं?

विनायकः मैं विनायक हूं, आंध्र प्रदेश से। विविधता के संदर्भ में, हमारे स्कूल में विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे आते हैं, हम पाठ्यक्रम डिज़ाइन करने में बच्चे की ज़रूरत, रुचि और स्थानीय परिवेश के मुद्दों का ख्याल कैसे रखें?

भूपेंद्र रेड्डीः मैं भूपेंद्र रेड्डी, सर्व शिक्षा अभियान, हैदराबाद से। यदि आप प्रयोगों के ज़रिए कल्पनाशीलता, प्रक्रियाएं वगैरह सारी चीज़ों पर ध्यान देना चाहें, तो पाठ्यपुस्तकें जानकारी से इतनी ठसाठस भरी हैं कि हम कैसे ये सारी प्रक्रियाएं भी विकसित करें और सिलेबस भी पूरा करें? तो यदि हम वैज्ञानिक प्रक्रियाएं और हुनर विकसित करना चाहें, तो हमें फिर से सोचना होगा कि कौन-सी चीज़ ज़रूरी है - जानकारी या इस तरह की कल्पनाशीलता, एहसास और हुनर?

दूसरा सवाल यह है कि क्या यह संभव नहीं है कि हम बाह्य मूल्यांकन प्रक्रिया की पूरी तरह छुट्टी करके, प्रक्रिया के दौरान (फॉर्मेटिव) मूल्यांकन को व्यवस्था का अभिन्न अंग बना दें? बाह्य परीक्षा की बजाय सीखने की प्रक्रिया के

दौरान ही शिक्षक छात्रों की परीक्षा लें।

विजय वर्माः मेरे ख्याल में आपने बिलकुल सही प्रश्न किया है कि हम पाठ्यक्रम के कुछ ऐसे लक्ष्य तय करने का प्रयास क्यों न करें जो देश भर समान रूप से लागू हो सकें। मेरा ख्याल था कि मैंने यह स्पष्ट कर दिया था। यदि नहीं किया था, तो मैं एक बार फिर कहूंगा कि हां, यह संभव है। यह कहना तो शायद संभव न हो कि ये लक्ष्य सार्वभौमिक होना चाहिए मगर काफी हद तक समान राष्ट्रीय लक्ष्य हो सकते हैं। मगर इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आपको अलग-अलग रणनीतियां अपनानी होंगी और स्थानीय विविधता को जगह देने की बात यहीं आती है। तो मेरा आपसे कोई झगड़ा नहीं है।

दो सवालों का सम्बंध व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन से और इस बात से था कि उसकी समस्याओं को कैसे संभालें। आप सही कह रहे हैं। जहां मैंने मूल्यांकन में सुधार होते देखे हैं, बार-बार यह सवाल आता है कि शिक्षक अपने छात्रों को ज़्यादा अंक देते हैं ताकि वे अन्य के साथ होड़ कर सकें। यह समस्या तभी आएगी जब आप इस मूल्यांकन का उपयोग बड़े पैमाने पर ऐसे छात्रों के बीच फैसला करने के लिए करेंगे जो बहुत अलग-अलग पृष्ठभूमि से हैं। मेरे ख्याल में इसी ज़रूरत की वजह से एक आम राष्ट्र-व्यापी या प्रांत-व्यापी परीक्षा, राष्ट्रीय एकता के नाम पर, हमारे ऊपर थोपी जा रही है। मुझे लगता है कि इस मामले में अमरीकी मॉडल उपयोगी हो सकता है। अमरीकी मॉडल में हर शिक्षक अपने छात्रों के मूल्यांकन के लिए ज़िम्मेदार होती/ता है, और जब यह सवाल आता है कि कौन-से छात्र विश्वविद्यालय में जाएंगे, तो एक राष्ट्रीय परीक्षा व्यवस्था है मगर इस फैसले में भी शिक्षक द्वारा किए गए मूल्यांकन का बहुत महत्व होता है। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालयों में इस बात का विस्तृत रिकॉर्ड रखा जाता है कि उन्हें विभिन्न स्कूलों के शिक्षकों से क्या सिफारिशें प्राप्त हुई हैं। जब किसी छात्र का प्रदर्शन अच्छा रहता है, तो वे उस शिक्षक को लिखते हैं कि 'प्रवेश प्रक्रिया सम्पन्न करने में मदद देने के लिए आपका धन्यवाद। हम बताना चाहते हैं कि आपने जिस छात्र की सिफारिश की थी वह हमारे विश्वविद्यालय में बहुत अच्छा प्रदर्शन कर रहा/रही है, और हम चाहेंगे कि आप भविष्य में भी अपने छात्रों की सिफारिश करें।' यह करने का कोई शॉर्टकट नहीं है, पूरी व्यवस्था को बदलना होगा। मगर हम एक ऐसी व्यवस्था में फंसे हुए हैं, जिसमें विद्यार्थी का पूरा भविष्य इस बात से तय होता है कि उसे 91 प्रतिशत अंक मिलते हैं या 90 प्रतिशत क्योंकि यदि 91 प्रतिशत मिले तो उसे दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी ऑनर्स में प्रवेश मिलेगा, और यदि 90 प्रतिशत मिले तो उसे ऐसा कुछ करने को मजबूर होना पड़ेगा, जो वह नहीं करना चाहता/ती। तो जब मैं मूल्यांकन प्रक्रिया में परिवर्तन की बात कर रहा हूं, तो इसकी चिंता सिर्फ छात्रों, शिक्षकों और पाठ्यक्रम निर्माताओं को ही नहीं करनी है, बल्कि उन्हें भी इसमें शामिल होना चाहिए जो सार्वजनिक शिक्षा की इस व्यवस्था की मदद से यह मूल्यांकन करते हैं कि किस छात्र को प्रवेश मिलेगा, किसे नहीं।

सार्वजनिक परीक्षा के संदर्भ में, मेरे ख्याल में, डच मॉडल से काफी कुछ सीखा जा सकता है। हॉलैण्ड (यह एक छोट देश है और मैं यह नहीं कह रहा हूं कि आप उस मॉडल को हूबहू लागू कर दें) में उन्हें कुछ अंदाज़ होता है कि आने वाले तीन-चार सालों में उन्हें कितने इंजीनियर्स, डॉक्टर्स, अफसरों, तथा अन्य किस्म के प्रशिक्षित व्यक्तियों की ज़रूरत होगी। फिर वे कहते हैं कि जिन छात्रों को स्कूली परीक्षा में कुछ न्यूनतम अंक, जैसे 75 प्रतिशत या 60 प्रतिशत, मिले हैं वे सब पात्र हैं और उनसे कहा जाता है कि भावी अध्ययन के लिए अपनी प्राथमिकताएं बता दें। इसके बाद एक लॉटरी निकाली जाती है कि न्यूनतम पात्रता वाले 500 छात्रों में से कौन-से 25 छात्र इंजीनियर बनेंगे, कौन-से 30 छात्र डॉक्टर बनेंगे या अफसर बनेंगे। यह कहीं ज़्यादा मानवीय व तर्कसंगत तरीका है, खास तौर से इसलिए कि देश में की जाने वाली लगभग कोई भी प्रवेश परीक्षा सम्बंधित कोर्स के लिए छात्र की अभिरुचि की जांच नहीं करती। सारी परीक्षाएं गणितीय हुनर की जांच करती हैं। मैंने आई.आई.एम., बैंगलोर के एक पूर्व प्राध्यापक से अपने भतीजे के बारे में पूछा था। इस भतीजे ने पूरा एक साल एम.बी.ए. प्रवेश परीक्षा की तैयारी में खपाया था। हालांकि उसे एक स्नातकोत्तर कोर्स में प्रवेश मिला था मगर वह कभी कक्षा में नहीं गया। वह तो सप्ताह के सातों दिन घर पर बैठकर प्रवेश परीक्षा की तैयारी करता था। और तैयारी में क्या करता था? वह दसवीं की गणित (प्रायः अंकगणित) की किताब उठा लेता और 90 सवालों को आधे घंटे में हल करने के तरीके खोजता। वह रफ्तार बढ़ाने की कोशिश कर रहा था, और यह भांपने की कोशिश कर रहा था कि किस तरह के सवाल पूछे जाएंगे ताकि वह उन्हें जल्दी से जल्दी हल करने को तैयार हो। मैंने सेवा निवृत्त प्रोफेसर से पूछा यह था कि "किसी व्यापारी को अपना व्यापार सफलतापूर्वक चलाने के लिए चुटकियों में निर्णय लेने की क्षमता का उपयोग कब करना पड़ता है?" और एकमात्र औचित्य वे यही बता पाए थे कि आई.आई.एम. की आंतरिक परीक्षा के परिणामों से यह प्रमाणित हुआ है कि प्रवेश परीक्षा में छात्र के प्रदर्शन और अंतिम परीक्षा में उसके प्रदर्शन के बीच सीधा सम्बंध होता है। यह प्रमाणित करता है कि चयन प्रक्रिया सही है। मेरे ख्याल में यह पूरी तरह टॉटोलॉजिकल (एक ही बात को दो तरह से कहकर मानना

कि वे एक-दूसरे को सिद्ध करती हैं) है और अस्वीकार्य उत्तर है।
और आखरी बात। कक्षा में जिस ढंग के प्रयोगों की बात हम कर रहे हैं, वे मशीनी ढंग से किए जाने वाले मात्र सत्यापन के प्रयोग नहीं हैं। हमें यह कभी नहीं कहना चाहिए कि 'ओम के नियम का सत्यापन करो।' होना यह चाहिए कि छात्र ऐसी समस्याओं की छानबीन करें, जिनका सामना उन्होंने पहले न किया हो, ऐसी समस्याएं जिनका सम्बंध दैनिक जीवन से हो और निश्चित रूप से ऐसी राशियां नापें जो प्रयोग शुरू करने से पहले ही पता न हों।
मुझे इतना ही कहना है, धैर्यपूर्वक सुनने के लिए धन्यवाद।

उमा सुधीर

आपने कई अनुभवी व स्पष्ट वक्ताओं को सुना। यदि मैं उनकी तरह बोलने की कोशिश करूंगी, तो कहीं भटक जाऊंगी। इसलिए मैं अपनी लिखित इबारत पर ही चलूंगी। विजय ने काफी विस्तार में इस बात पर प्रकाश डाला है कि उनके अनुसार पाठ्यक्रम में क्या शामिल किया जाना चाहिए। मैंने सिर्फ पाठ्य पुस्तकों पर गौर किया है। एकलव्य में आने से पहले भी मैं मानती थी कि पाठ्य पुस्तकें बहुत महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि पाठ्यक्रम तो किसी-किसी को ही देखने को मिलता है। हो सकता है कि लोग कक्षा 9, 10, 11 और 12 का सिलेबस (विषय वस्तु) देखते हों, मगर उससे नीचे की कक्षाओं में तो सिलेबस को कोई देखता तक नहीं। मैंने एकलव्य से जुड़ने से पहले पाठ्यक्रम का कोई दस्तावेज़ नहीं देखा था, हालांकि मैंने बी.एड. किया है। उस समय 1986 का दस्तावेज़ आया था, मगर पता नहीं क्यों मैंने उसे कभी नहीं देखा था। पाठ्य पुस्तक इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि किसी विषय को किस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, इस पर कई अन्य चीज़ों का भी असर पड़ता है।
कक्षा 10 तक जो सामान्य विज्ञान पढ़ाया जाता है, उसे तीन चरणों में बांटा जा सकता है - प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक। हमने फरीदा से सुना कि पियाजे की कुछ बातें सही हैं और कुछ सही नहीं हैं। मगर हर अवस्था के लिए काफी अलग-अलग तरीके की ज़रूरत होती है। बड़े होने के साथ-साथ बच्चे की रुचियां और क्षमताएं बदलती हैं और ये अवस्थाएं मोटे तौर पर उन परिवर्तनों के अनुसार बनाई गई हैं। एक बार पाठ्यक्रम तैयार हो जाए (जैसा कि विजय ने कहा, पाठ्यक्रम काफी व्यापक चीज़ है), तो पाठ्य पुस्तकें कई तरह से लिखी जा सकती हैं। जो तरीका अपनाया जाएगा, उससे यह भी तय होगा कि बच्चे में किस तरह के हुनर व क्षमताएं विकसित होंगे।
सूक्ष्म ढंग से हम बच्चे को ढालते हैं, और कभी-कभी यह इतना सूक्ष्म भी नहीं होता। हम तय करते हैं कि हम बच्चे को यह बनाना चाहते हैं और हम इस ढंग से बच्चे को पढ़ाएंगे और अंततः हमें एक ऐसा/ऐसी नागरिक मिलना चाहिए जिसमें वे गुण हों जो हमें ठीक लगते हैं। यदि हम उच्च माध्यमिक स्तर का पाठ्यक्रम देखें, तो पाते हैं कि यह पूरी तरह विषय-आधारित है। माध्यमिक स्तर पर भी एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्य पुस्तकें मात्र विषय पर ही ध्यान देती हैं। उनमें बच्चे की रुचि वगैरह या उसके परिवेश पर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया गया है। ज़ाहिर है, एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्य पुस्तकों को स्थानीय परिवेश की उपेक्षा करनी पड़ती है क्योंकि माना जाता है कि वे पूरे देश के लिए बनी हैं। मगर होता यह है कि एन.सी.ई.आर.टी. तो बड़ा दादा है, इसलिए प्रांतीय बोर्ड भी कमोबेश एन.सी.ई.आर.टी. का अनुसरण करते हैं और वे भी स्थानीय परिस्थिति की परवाह नहीं करते और आम तौर पर पाठ्य पुस्तकें बच्चे के परिवेश से पूरी तरह विमुख रहती हैं। प्राथमिक स्तर पर तो शिक्षक के लिए यह करना बहुत ही आसान होगा कि हमारे आसपास क्या है, बच्चों की दिलचस्पी क्या है, और वैसे भी प्राथमिक स्तर पर तो आप मात्र तरह-तरह के हुनर विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं, पाठ्यक्रम भी यही कहता है। हुनर का विकास तो कई तरह से हो सकता है।
मगर मैंने माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम और उसमें उपस्थित विभिन्न कारकों पर ज़्यादा ध्यान दिया है। सबसे पहले आता है विषय, कोई विषय कितनी गहनता की मांग करता है? उसके बाद आते हैं बच्चे की रुचियां और फिर बच्चे का परिवेश, जो बच्चे की रुचियों को प्रभावित करेगा। मुझे माध्यमिक स्तर बहुत आकर्षक लगता है क्योंकि माध्यमिक स्तर पर आपके पास इन विभिन्न ज़रूरतों का संतुलन बनाने की सर्वाधिक गुंजाइश होती है और आप कई चीज़ें कर सकते हैं, इन चीज़ों का ध्यान रखकर कई तरीके आज़मा सकते हैं। हां, इन सब चीज़ों में आप तरीका कोई भी अपनाएं, विज्ञान की प्रक्रिया तो निहित ही होगी। मैंने पाठ्य पुस्तकों के तीन सेट्स पर ध्यान दिया है - एक तो बाल वैज्ञानिक है, और बाकी दो दिल्ली एस.सी.ई.आर.टी. तथा एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्य पुस्तकें हैं, क्योंकि इनमें नवीनतम पाठ्यक्रम लिया गया है। मैंने पाठ्य पुस्तकों को देखा और सिलेबस को देखा। आप कल से ही सुन रहे हैं कि बाल वैज्ञानिक काफी अलग थीं क्योंकि उन लोगों ने इसे इस विचार के आधार पर शुरू किया था कि विज्ञान करके सीखा जाना चाहिए। तो यह एक आदर्श है मगर जैसे ही इस आदर्श को बच्चे के परिवेश से और बच्चे की रुचियों से जोड़ा गया, तो आप देखते हैं कि कई सारे विषय, पारंपरिक विषय शामिल हुए और दरअसल कई मामलों में तो इन विषयों को कहीं अधिक गहराई में जाकर सिखाया गया और वह सिलेबस बड़ी संख्या में विषयों को शामिल करता है। और